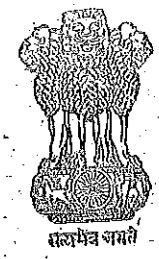

भारत का विधि आयोग

एक-सौ चौथी रिपोर्ट

न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम, 1850

अक्तूबर, 1984

अर्द्ध शा० सं० 2(8)/84-10

न्यायमूर्ति के० के० मैथ्यू

नई दिल्ली

तारीख : 10 अक्तूबर, 1984

मंत्री महोदय,

मैं इसके साथ विधि आयोग की एक-सौ चौथी रिपोर्ट भेज रहा हूं जो "न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम, 1850" के विषय में है। विधि आयोग ने इस विषय पर स्वप्रेरणा से विचार किया है।

इस रिपोर्ट को तैयार करने में श्री पी० एम० बक्षी, अंशकालिक सदस्य, और श्री ए० के० श्रीनिवासमूर्ति, सदस्य-सचिव ने जो मूल्यवान् सहायता की है उसके लिए आयोग उनका ऋणी है।

सादर,

भवदीय,

ह०

(क० के० मथ्यू)

श्री जगन्नाथ कौशल,
विधि, न्याय और कंपनी कार्य मंत्री,
नई दिल्ली।

संलग्न : एक-सौ चौथी रिपोर्ट

1—410 एल०ए०डी०/एन०डी०/84

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ
1.	परिचायक	1
2.	इतिहास	2
3.	वर्तमान विधि	3
4.	संक्षिप्त नाम और विस्तार	5
5.	न्यायाधीशों के रूप में संरक्षण पाने के लिए हकदार व्यक्ति	6
6.	वे कार्यवाहियां जिनके लिए संरक्षण उपलब्ध हैं	8
7.	अनुसचिवीय कार्य	9
8.	"सद्भाव" और अन्य अभिव्यक्तियां	10
9.	कार्य-संचालन पत्र के बारे में प्राप्त आलोचनाएं	12
10.	मुख्य सिफारिशें	13

परिशिष्ट

परिशिष्ट 1—	भारतीय दण्ड संहिता की धारा 76 से धारा 78	15
परिशिष्ट 2—	न्यायाधीशों के संरक्षण के बारे में इंग्लिश विधि	16

अध्याय 1

परिचायक

अधिनियम के पुनरीक्षण की आवश्यकता ।

1.1. विधि आयोग ने न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम, 1850 का पुनरीक्षण करने का निश्चय विधि के सरलीकरण के अपने कृत्य के भाग के रूप में स्वप्रेरणा से किया है । इस अधिनियम को जिस रीति से अभिव्यक्त किया गया है वह पुराना पड़ गया है, विशेष कर भारत में जो पश्चात्वर्ती विधायी और अन्य विकास-कार्यों के परिणामस्वरूप । अतः अधिनियम का पुनरीक्षण अत्यन्त आवश्यक हो गया है । एक शताब्दी से अधिक पूर्व यह अधिनियम पारित किया गया था । तब से इसके उपबन्धों का व्यापक पुनरीक्षण नहीं किया गया । अधिनियम से जो मुद्दे उत्पन्न हुए हैं वे इतने महत्वपूर्ण हैं कि उन पर गम्भीरता से विचार किया जाना अपेक्षित है ।

अधिनियम का सिद्धान्त ।

1.2. मोटे तौर पर कह सकते हैं कि अधिनियम के दो उद्देश्य हैं । यह अधिनियम न्यायिक कृत्य करने वाले व्यक्तियों को संरक्षण प्रदान करता है और न्यायपालिका द्वारा अपने कृत्यों के प्रयोग में पारित डिक्रियों और आदेशों का निष्पादन करने वाले व्यक्तियों को संरक्षण देने के लिए भी इसमें परिकल्पना की गई है । पहला तो अधिनियम का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है, और दूसरा उद्देश्य, जो कार्यकारी अधिकारियों को संरक्षण देने के लिए है, पहले का आनुषंगिक माना जा सकता है ।

सिद्धान्त और ब्यौरा ।

1.3. अधिनियम में किसी नए सिद्धान्त का अधिकथन नहीं किया गया है । कामन ला वाले अधिकांश देश अपने न्यायाधीशों को उनकी अधिकारिता के बाहर के कार्यों के सम्बन्ध में भी पर्याप्त संरक्षण प्रदान करते हैं परन्तु तब जब कि ऐसे कार्य ईमानदारी और उचित तथा सम्भाव्य कारण से किए जाएं । किन्तु यह सिद्धान्त भले ही विवादास्पद नहीं है फिर भी ब्यौरे की अनेक बातें उत्पन्न हो जाती हैं और अधिनियम के उपबन्धों पर कुछ विस्तार से विचार करना वांछनीय है । अधिनियम के उपबन्धों पर विचार-विमर्श करने से पहले इसका संक्षेप में इतिहास देना सुविधाजनक हो सकता है ।

कार्य-संचालन पत्र ।

1.4. विधि आयोग ने इस विषय पर राय जानने के लिए एक कार्य-संचालन पत्र तैयार और उसे परिचालित किया था[1] जिसमें हितबद्ध व्यक्तियों और निकायों से आलोचनाएं आमंत्रित की गई थीं । कार्य-संचालन पत्र के सम्बन्ध में प्राप्त आलोचनाओं का उल्लेख समुचित स्थान पर किया जाएगा ।[2-3]

---

1. भारत का विधि आयोग, न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम, 1850 के सम्बन्ध में कार्य-संचालन पत्र ।
2. आगे अध्याय 9 ।
3. इस रिपोर्ट पर हस्ताक्षर किए जाने की तारीख तक प्राप्त सभी आलोचनाओं पर ध्यान दिया गया है ।

अध्याय 2

इतिहास

ब्रिटिश कानून के अधीन प्रान्तीय मजिस्ट्रेटों की स्थिति।

2.1. भारत में 1850 से पहले न्यायिक उन्मुक्ति (इम्यूनिटी) के सम्बन्ध में कोई व्यापक विधान नहीं था। एक ब्रिटिश कानून में इस विषय की बहुत सीमित क्षेत्र में चर्चा करते हुए निम्नलिखित रूप में उपबन्धित था :—[1]

> "और, प्रान्तीय मजिस्ट्रेटों तथा देशवासियों को भी ब्रिटिश प्रजाजन के रूप में उनके पद का निष्पादन किए जाने में अधिक सुरक्षा प्रदान करना उचित है अतः यह अधिनियमित किया जाए कि दोष या क्षति के लिए कोई कार्रवाई उच्चतम न्यायालय में न तो किसी ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध की जाएगी जो देश के न्यायालयों में न्यायिक पद का प्रयोग उक्त न्यायालय के किसी निर्णय, डिक्री या आदेश के लिए करता है और न किसी व्यक्ति के विरुद्ध उक्त न्यायालय के आदेश से या के बल पर किए गए किसी कार्य के लिए की जाएगी।"

ब्रिटिश कानून के उद्देश्य के बारे में प्रिवी कौंसिल का दृष्टिकोण।

2.2. ब्रिटिश कानून की उस धारा[1] का उद्देश्य उन व्यक्तियों का संरक्षण करना था जो **अपनी अधिकारिता के अन्दर** की गई बातों के लिए न्यायिक पद का प्रयोग करते थे, अनियमित रूप से की गई हों और अधिकारिता के सम्पूर्णतया बाहर की गई बातों के लिए उनका संरक्षण नहीं किया जाता था। प्रिवी कौंसिल ने ऐसा ही अभिनिर्धारित किया था।[2]

उपयुक्त कानून का प्रिवी कौंसिल द्वारा अर्थान्वयन।

2.3. प्रिवी कौंसिल ने आगे यह भी अभिकथन किया था कि "उपर्युक्त कानूनन" भारत में प्रान्तीय मजिस्ट्रेटों का, उनके न्यायिक पदों के प्रयोग में उनके द्वारा किए गए किसी दोष या क्षति के लिए कार्रवाई से (संरक्षण करना) मजिस्ट्रेटों को असीमित संरक्षण प्रदान नहीं करता। उसने उन्हें उसी स्तर पर रखा जिस स्तर पर समान अधिकारिता वाले ब्रिटिश न्यायालय थे। प्रिवी कौंसिल ने इस बात के लिए कोई कारण नहीं देखा कि भारतीय न्यायाधीश "समान परिस्थितियों में साधारण और सीमित अधिकारिता रखने वाले इंग्लिश न्यायाधीशों से अधिक या कम संरक्षित क्यों होने चाहिए ?"

> प्रिवी कौंसिल के मतानुसार उन्हें (भारतीय न्यायाधीशों को) उस समय दायित्व से छूट देना जब वे सद्भावनापूर्वक किन्तु अधिकारिता के बिना कार्य करते हैं इंग्लिश न्यायाधीशों से अच्छे स्तर पर रखना होगा और क्षतिग्रस्त व्यष्टि को उपचार के बिना पूरी तरह नजरअन्दाज कर देना होगा। प्रिवी कौंसिल ने आगे यह भी विचार प्रकट किया कि "क्योंकि इंग्लिश न्यायाधीशों को, जब वे अधिकारिता के सम्पूर्णतया बाहर कार्य करते हैं, चाहे वे यह अनुमान कर सकते हों कि उन्हें अधिकारिता प्राप्त है या नहीं, कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है और जस्टिस आफ दि पीस को संक्षिप्त दोषसिद्धि के मामले में इस रूप में या अपने न्यायिक रूप में कार्य करते हुए इसके सिवाय और कोई अन्य विशेषाधिकार प्राप्त नहीं है कि उन्हें कार्रवाई की सूचना प्राप्त हो, न्याय-स्थल के बारे में निर्बन्धन लगाने का अधिकार प्राप्त हो, संशोधन करने का सुझाव देने की शक्ति और खर्चे के बारे में कुछ सुविधाओं के साथ सामान्य विवाद्यकों का अभिवचन करने की शक्ति प्राप्त हो।"

1850 से पहले की स्थिति।

2.4. अतः 1850 के अधिनियम के पारित होने से पहले भारत में न्यायाधीशों को केवल अधिकारिता के अन्दर कार्यों के लिए संरक्षण विद्यमान था, जैसा कि प्रिवी कौंसिल द्वारा अभिनिर्धारित किया गया था। आगे जैसा बताया जाएगा 1850 के अधिनियम द्वारा न्यायाधीशों को उपलब्ध संरक्षण का विस्तार किया गया है।

---

1. सेक्शन 24, स्टैच्यूट 21, जी इ ओ 3 चौप० 70।

2. कालडर बनाम हालकेट (1840) 2 मू० इंडि० अपी० 293 13 ई आर 12, 3 मू० पी० सी० 28 (1835-1842) आल० ई० आर० 306।

अध्याय 3

वर्तमान विधि

1850 के अधिनियम का प्रविषय ।

3.1. 1850 का अधिनियम में न्यायाधीशों को संरक्षण देने के सम्बन्ध में पूर्वतर विधि[1] से अधिक निश्चित उपबन्ध किए गए हैं । पहली बात यह है कि यह न्यायिक अधिकारियों का केवल ऐसे कार्यों के बारे में वादों से संरक्षण नहीं करता जो उन्होंने **अपनी अधिकारिता की सीमाओं के अन्दर** अपने कर्तव्यों के निर्वहन में किया हो या जिनको करने के लिए उन्होंने आदेश दिया हो बल्कि ऐसे कार्यों के बारे में वादों से भी संरक्षण करता है जो उन्होंने **अपनी अधिकारिता की सीमाओं के बाहर किया हो,** परन्तु यह तब जब कि पश्चात्वर्ती दशा में अर्थात् अपनी अधिकारिता की सीमाओं के बाहर किए कार्य के बारे में वह वैसा कार्य करते समय या करने का आदेश देते समय स्वयं यह सद्भावपूर्वक विश्वास करता हो कि उसे ऐसी अधिकारिता प्राप्त थी । तीसरी बात यह है कि यह अधिनियम न्यायिक अधिकारी के आदेशों के अनुसरण में कार्य करने वाले व्यक्तियों का भी उस दशा में संरक्षण करता है जब कि वे सद्भावपूर्वक उस कार्य को **इस बात के होते हुए भी** करते हैं कि न्यायिक अधिकारी को वह विशिष्ट आदेश पारित करने की अधिकारिता नहीं थी ।

अधिनियम की स्कीम और अध्ययन के लिए तीन प्रमुख शीर्षक ।

3.2. अधिनियम की स्कीम काफी सरल है । उन दिनों की विधायी पद्धति के कारण अधिनियम के प्रारम्भ में उसके संक्षिप्त नाम और राज्यक्षेत्रीय विस्तार की चर्चा करने वाले प्रारंभिक खण्ड का उल्लेख नहीं है । अधिनियम में केवल एक धारा है और उसकी संरचना जटिल नहीं है ।

किन्तु (i) अधिनियम का संरक्षण पाने वाले व्यक्तियों[2], (ii) किस प्रकार की कार्यवाहियों के लिए ऐसा संरक्षण उपलब्ध है[3], और (iii) किस विस्तार तक ऐसा संरक्षण उपलब्ध है[4], इनके बारे में विस्तार से अध्ययन करने की सम्भावना है ।

धारा 1 ।

3.3. अधिनियम की धारा 1 को पूर्ण रूप से उद्धृत किया जा सकता है :

"1. न्यायिक कार्य करने वाले अधिकारियों का सद्भावपूर्वक किए गए शासकीय कार्य के लिए और वारण्ट और आदेशों के निष्पादन करने वाले अधिकारियों का वाद में अदायित्व । किसी न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट, जस्टिस आफ दि पीस, कलक्टर या न्यायिक कार्य करने वाले अन्य व्यक्ति के विरुद्ध किसी सिविल न्यायालय में उसके न्यायिक कर्तव्य के निर्वहन में किए गए या उसके द्वारा किए जाने के लिए आदिष्ट किसी कार्य के लिए, चाहे वह उसकी अधिकारिता की सीमा के भीतर है अथवा नहीं, वाद नहीं लाया जा सकेगा :

परन्तु यह तब जब वह उस समय सद्भावपूर्वक यह विश्वास करता था कि उसे परिवादित कार्य करने की अथवा उसके लिए आदेश देने की अधिकारिता है; और किसी न्यायालय का कोई अधिकारी या अन्य ऐसा व्यक्ति जो ऐसे न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट, जस्टिस आफ दि पीस, कलक्टर या न्यायिक कार्य करने वाले अन्य व्यक्ति के विधिपूर्ण वारण्ट या आदेशों को निष्पादित करने के लिए आबद्ध है तो यदि वह उसको जारी करने वाले व्यक्ति की अधिकारिता के भीतर है, तो उसके विरुद्ध किसी सिविल न्यायालय में किसी वारण्ट या आदेश के निष्पादन के लिए जिसे वह निष्पादित करने के लिए आबद्ध है; कोई वाद नहीं लाया जा सकेगा ।"

---

1. पूर्वतर विधि के लिए पिछला अध्याय 2 देखिए ।
2. आगे अध्याय 5 ।
3. आगे अध्याय 6-7 ।
4. आगे अध्याय 8 ।

धारा 1 के तीन पहलुओं का महत्व ।

3.4. हमने धारा 1 का विश्लेषण करने में जिन तीन बातों का ऊपर उल्लेख किया है[1] उनमें से प्रत्येक बात का अपना महत्व है । पहली बात जो संरक्षण पाने के हकदार व्यक्तियों के सम्बन्ध में है, इस कारण महत्वपूर्ण है कि अर्द्ध-न्यायिक कृत्यों का पालन करने वाले प्राधिकारियों की संख्या में अभी हाल में वृद्धि हुई है । दूसरी बात जो इस बात के सम्बन्ध में है कि किस प्रकार की कार्यवाहियों को संरक्षण मिलता है--इस कारण महत्वपूर्ण है कि प्रशासनिक विधि से संबंधित कुछ धारणाएं प्रकट हुई हैं । तीसरी बात भी--जो संरक्षण के विस्तार के सम्बन्ध में है--इस कारण महत्वपूर्ण है कि उससे उस मानसिक स्थिति और अन्य तत्वों के बारे में चिन्ता प्रकट होती है जो अधिनियम द्वारा प्रदत्त उन्मुक्ति (इम्यूनिटी) की उपलभ्यता के लिए आवश्यक मापदण्ड है ।

---

1. पिछला पैरा 3.2 ।

अध्याय 4

संक्षिप्त नाम और विस्तार

संक्षिप्त नाम का संशोधन किया जाना ।

4.1. इस अधिनियम में परिवर्तनों की आवश्यकता का उल्लेख करते समय हम अधिनियम पर अपना विचार उसके संक्षिप्त नाम "न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम, 1850" से प्रारंभ करते हैं। हमारी राय में इस संक्षिप्त नाम का पुनरीक्षण करना आवश्यक है। "न्यायिक अधिकारी" पदावली पूरी तरह समुचित नहीं है। साधारण आदमी इससे यह समझ सकता है कि यह केवल ऐसे व्यक्तियों के बारे में है जो राज्य के निम्नतर न्यायिक संवर्ग (काडर) में है किन्तु यह अधिनियम उन्हीं तक सीमित नहीं है। इसका विस्तार उन सभी व्यक्तियों पर है जो न्यायिक रूप में कार्य करते हैं—जिन्हें "न्यायाधीश"[1] मोटे तौर पर कहा जा सकता है। इस विचार को प्रमुख रूप से प्रकट करना अधिक समुचित होगा। अतः अधिनियम के संक्षिप्त नाम का पुनरीक्षण "न्यायाधीश संरक्षण अधिनियम, 1850" के रूप में किया जाना चाहिए।

हम "न्यायाधीश" की उस परिभाषा को जो भारतीय दण्ड संहिता"[2] में दी गई है, अपनाने के लिए अलग से[3] सुझाव दे रहे हैं।

राज्य क्षेत्रीय विस्तार।

4.2. विचारणीय अगला विषय अधिनियम के राज्य क्षेत्रीय के संबंध में है। इस समय अधिनियम में उसके राज्यक्षेत्रीय विस्तार को परिनिश्चित करने वाला कोई उपबन्ध नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वतंत्रता से पहले यह अधिनियम अनुसूचित जिलों के सिवाय (ब्रिटिश) भारत के सभी प्रान्तों में प्रवृत्त था।[4] बाद में (अर्थात् स्वतंत्रता के बाद) इस अधिनियम पर विस्तार विचलित राज्यों[5] और संघ राज्यक्षेत्रों पर किया गया था।[6] किन्तु अधिनियम का विस्तार भाग "ख" राज्यों के क्षेत्रों पर संसदीय विधान द्वारा अभी तक नहीं किया गया है, भले ही इन क्षेत्रों के अधिकांश भागों में इसी प्रकार का विधान सम्भवतः प्रवृत्त हो।

परिवर्तन की आवश्यकता।

4.3. इस बात के लिए कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि इस अधिनियम का विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय संपूर्ण भारत पर क्यों नहीं होना चाहिए। ऐसा करने में हमें कोई संवैधानिक कठिनाई नहीं दिखाई देती। अधिनियम का वास्तविक तात्पर्य "वादयोग्य दोष" के विषय के अंतर्गत आने वाला प्रतीत होता है, जो संविधान के समवर्ती सूची में विनिर्दिष्ट रूप से सम्मिलित है।[7] भले ही यह माना जाता है कि यह अधिनियम "न्याय प्रशासन" के विषय में है फिर भी यह एक ऐसा विषय है जो अब समवर्ती सूची के अंतर्गत है।[8] अतः इस अधिनियम का विस्तार पूर्ववर्ती भाग "ख" राज्यों के क्षेत्रों पर करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसे विषयों में एकरूपता वांछनीय है और यदि कोई संवैधानिक कठिनाई नहीं है तो ऐसा कर देना चाहिए।

अधिनियम का विस्तार सम्पूर्ण भारत पर कर देने का प्रस्ताव।

4.4. तदनुसार हम यह प्रस्ताव करते हैं कि इस अधिनियम का विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय संपूर्ण भारत पर कर देना चाहिए।

---

1. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 19 से तुलना कीजिए।
2. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 19।
3. आगे पैरा 5.2 देखिए।
4. विधि (स्थानीय विस्तार) अधिनियम, 1874 (1874 का 15) की धारा 3।
5. विलचित राज्य (विधियां) अधिनियम, 1949 (1949 का 58)।
6. संघ राज्यक्षेत्र (विधि) अधिनियम, 1950 (1950 का 30)।
7. संविधान, सातवीं अनुसूची, समवर्ती सूची, प्रविष्टि 8।
8. संविधान, सातवीं अनुसूची, समवर्ती सूची, प्रविष्टि 14।

2—410 एल०ए०डी०/एन डी/84

अध्याय 5

न्यायाधीशों के रूप में संरक्षण पाने के लिए हकदार व्यक्ति

धारा 1—संरक्षण के लिए हकदार व्यक्ति ।

5.1. अब अधिनियम के वास्तविक उपबंधों पर विचार करने पर हम यह पाते हैं कि जिन व्यक्तियों को अधिनियम द्वारा संरक्षण प्रदान किया है उनकी गणना धारा 1 में "न्यायाधीश, मजिस्ट्रेट, जस्टिस आफ दि पीस, कलक्टर या न्यायिक कार्य करने वाले अन्य व्यक्ति" के रूप में की गई है । इस धारा में सभी व्यक्तियों की गणना करने में अंतर्निहित सर्वप्रमुख धारणा "न्यायिक रूप से कार्य करने" के बारे में है । हम यह पाते हैं कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 77 में यही विचार संक्षेप में किन्तु व्यापक रूप से अभिव्यक्त है[1] जो न्यायाधीशों को कुछ न्यायिक कार्यों के संबंध में आपराधिक दायित्व से संरक्षण प्रदान करती है ।

भारतीय दण्ड संहिता में "न्यायाधीश" और "न्यायालय" की परिभाषाएं ।

5.2. भारतीय दंड संहिता में "न्यायाधीश" शब्द और इससे सम्बद्ध शब्द "न्यायालय" की परिभाषा समुचित रूप से दी गई है[2] । भारतीय दण्ड संहिता की धारा 19 में (दृष्टांतों को छोड़कर) "न्यायाधीश" शब्द का निम्नलिखित अर्थ दिया गया है :

> '19. "न्यायाधीश" शब्द न केवल हर ऐसे व्यक्ति का द्योतक है जो पद रूप से न्यायाधीश अभिहित हो, किन्तु उस हर व्यक्ति का भी द्योतक है, जो किसी विधि कार्यवाही में, चाहे वह सिविल हो या दांडिक, अंतिम निर्णय या ऐसा निर्णय, जो उससे विरुद्ध अपील न होने पर अंतिम हो जाए या ऐसा निर्णय, जो किसी अन्य प्राधिकारी द्वारा पुष्ट किए जाने पर अंतिम हो जाए, देने के लिए विधि द्वारा सशक्त किया गया हो, अथवा जो उस व्यक्ति-निकाय में से एक हो जो व्यक्ति-निकाय ऐसा निर्णय देने के लिए विधि द्वारा सशक्त किया गया हो ।'

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 20 ।

5.3. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 20 में (दृष्टांत को छोड़कर) 'न्यायालय' की परिभाषा निम्नलिखित रूप में दी गई है :—

> '20. "न्यायालय" शब्द उस न्यायाधीश का, जिसे अकेले ही न्यायिकतः कार्य करने के लिए विधि द्वारा सशक्त किया गया हो, या उस न्यायाधीश निकाय का, जिसे एक निकाय के रूप में न्यायिकतः कार्य करने के लिए विधि द्वारा सशक्त किया गया हो, जब कि ऐसा न्यायाधीश या न्यायाधीश-निकाय न्यायिकतः कार्य कर रहा हो, द्योतक है ।'

धारा 1 के भाग के पुनः प्रारूपण की संभावना ।

5.4. यदि "न्यायाधीश" और "न्यायालय" शब्दों की परिभाषाएं (जैसी भारतीय दण्ड संहिता में दी गई हैं) विचाराधीन अधिनियम[3] में सम्मिलित कर ली जाती हैं तो भारतीय दण्ड संहिता की धारा 77 की भाषा को अपना लेने से इस अधिनियम की धारा 1 के इस भाग के प्रारूपण में सुधार करना संभव होगा । धारा 77 न्यायाधीशों की आपराधिक दायित्व से संरक्षण प्रदान करने के लिए मूल उपबन्ध है ।[4]

विचाराधीन अधिनियम की धारा 1 के इस भाग का पुनरीक्षण इस आधार पर निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :

> **"कोई न्यायाधीश किसी शक्ति के प्रयोग में, जो उसे विधि द्वारा दी गई है या जिसके बारे में वह सद्भावपूर्वक यह विश्वास करता है कि वह शक्ति उसे विधि द्वारा दी गई है : न्यायिकतः कार्य करते समय अपने द्वारा किए गए किसी कार्य के लिए किसी सिविल न्यायालय में अपने विरुद्ध वाद लाए जाने के लिए दायी नहीं होगा ।"**

---

1. परिशिष्ट 1 देखिए ।
2. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 19 और धारा 20 ।
3. आगे पैरा 8.5 से तुलना कीजिए ।
4. परिशिष्ट 1 देखिए ।

न्यायाधीशों से भिन्न प्राधिकारीगण ।

5.5. इस अधिनियम की धारा 1 से उत्पन्न होने वाले अन्य विवाद्यकों पर (अर्थात् ऐसे विवाद्यकों पर जो संरक्षित कार्यों की प्रकृति और न्यायिक उन्मुक्ति की अनेक अन्य स्थितियों के संबंध में हैं) विचार प्रारंभ करने से पहले अर्द्धन्यायिक प्राधिकारीगण के बारे में कुछ कह देना उचित होगा। संवैधानिक और प्रशासनिक सिद्धांतों के अनुसार इन प्राधिकारियों को नैसर्गिक न्याय के नियमों द्वारा आबद्ध माना जाता है और इसके परिणामस्वरूप वे उच्च न्यायालयों द्वारा संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन प्रयुक्त न्यायिक नियंत्रण के अधीन होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अनुज्ञेय न्यायिक नियंत्रण का विस्तार एक ऐसा प्रश्न से है जिसका संबंध मुख्यतया इस अनुच्छेद से है। वर्तमान प्रयोजन के लिए, विचारणीय यथार्थ विवाद्यक यह है कि ऐसे अर्द्ध-न्यायिक प्राधिकारियों को दायित्व से न्यायिक उन्मुक्ति (विचारणीय अधिनियम द्वारा प्रदत्त) किस विस्तार तक उपलब्ध है ?

प्राधिकरणों की श्रेणी।

5.6. ऊपर जो प्रश्न उठाया गया है वह व्यावहारिक महत्व का है क्योंकि इन प्राधिकरणों की बहुत व्यापक श्रेणी हैं एक स्तर पर तो कानूनी अधिकरण हैं जो न्यायालयों की ही तरह कार्य करते हैं। इन अधिकरणों को तथ्यों के बारे में पता लगाने का और औपचारिक रीति से तथा सिविल न्यायालय के लिए विहित प्रक्रिया का अनुसरण करके विधि लागू करने का कृत्य निहित किया गया है।[1]

दूसरे स्तर पर प्रशासनिक प्राधिकारीगण हैं जो यद्यपि अर्द्ध-न्यायिक रूप में कार्य करने के लिए और नैसर्गिक न्याय के नियमों का अनुसरण करने के लिए आबद्ध हैं किन्तु वे इस रूप में कोई न्यायिक कृत्य नहीं करते हैं।

इन दोनों स्तरों के बीच में अनेक प्रकार के प्राधिकारीगण हैं। इनके लिए न तो कोई न्यायिक उन्मुक्ति उपलब्ध है (क्योंकि ऐसे सम्बद्ध प्राधिकरण "न्यायालय" नहीं होते हैं) और न इन्हें किसी विशेष उपबंध द्वारा कानूनी संरक्षण दिया जाता है। ऐसे प्राधिकरणों के पीठासीन अधिकारी की ही तरह समान परिस्थितियों में सम्भवतः दायी होंगे।[2]

प्रस्तावित पुनः प्रारूपण का प्रभाव।

7. इससे यह प्रकट होगा कि धारा 1 के इस भाग[3] के पुनः प्रारूपण से, जिसमें प्रश्नास्पद संरक्षण पाने के हकदार व्यक्तियों की चर्चा है, न्याय का उद्देश्य पूरा होगा। एक ओर तो इसके अंतर्गत ऐसे सभी अधिकारी आ जाएंगे जिनका कृत्य "निश्चयात्मक निर्णय"[4] देना है, और दूसरी ओर इसके साथ ही प्रस्तावित पुनः प्रारूपण असम्यक् रूप से विस्तृत नहीं होगा क्योंकि जो प्राधिकरण निश्चयात्मक निर्णय देने के हकदार नहीं हैं वे अपवर्जित होंगे।

हम आनुषंगिक रूप से यह पाते हैं[5] कि अवमान (कन्टेम्प्ट) की विधि के संदर्भ में इस विषय पर इंगलैंड में सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार-विमर्श किया गया है और यह बताया गया है कि इसके लिए दो विरोधी परख (टेस्ट) के बारे में सोचा जा सकता है, अर्थात् (i) प्राधिकारी की "परख" का स्रोत और (ii) "कृत्य" की परख। हम जिस परख का प्रस्ताव रख रहे हैं वह मुख्यतया उन कृत्यों पर आधारित है जो सम्बद्ध प्राधिकरण में निहित किए गए हैं।

---

1. वाडे, एडमिनिस्ट्रेटिव ला (1977) पृष्ठ 641-642 से तुलना कीजिए।
2. वाडे, एडमिनिस्ट्रेटिव ला (1977) पृष्ठ 642 से तुलना कीजिए।
3. पिछला पैरा 5.2।
4. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 19 और धारा 20 से तुलना कीजिए।
5. लो एण्ड राउलिंग्स "ट्रिब्यूनल्स एण्ड लाज प्रोटेक्टिंग एडमिनिस्ट्रेशन आफ जस्टिस" (आरम 1982) पब्लिक ला, 438, 439।

अध्याय 6

वे कार्यवाहियां जिनके लिए संरक्षण उपलब्ध हैं

धारा 1 । इसका पूर्वतर अर्द्धांश और परन्तुक ।

6.1. विचाराधीन अधिनियम की धारा [1] (इसके पूर्वतर अर्द्धांश और परन्तुक), पर जिसमें सम्बद्ध व्यक्तियों को दिए गए संरक्षण की प्रकृति की चर्चा है, अब विचार किया जा सकता है । ऐसा प्रकट होता है कि यदि इस प्रयोजन के लिए भी भारतीय दण्ड संहिता की धारा 77 के समान उपबन्ध को अपना लिया जाए तो इससे सुधार होगा ।[1] विचाराधीन अधिनियम की धारा 1 के इस भाग में जिन सभी बातों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है वे सब बातें भारतीय दण्ड संहिता की धारा 77 में (ऐसी संक्षिप्ततर भाषा में) अभिव्यक्त की गई हैं ।[2]

अधिकारिता के अन्दर और बाहर कार्यों के बारे में स्थिति ।

6.2. 1850 के इस विचाराधीन अधिनियम के कुछ पहलुओं का विश्लेषण करना वांछनीय हो सकता है । 1850 के अधिनियम के अधीन संरक्षण उन कार्यों के लिए लागू होता है जो अधिकारिता के अन्दर किए गए हों और ऐसे कार्यों के सद्भावपूर्वक किए गए होने का प्रश्न नहीं उठता किन्तु यह संरक्षण ऐसे कार्यों के लिए जो अधिकारिता के बिना किए गए हों, उस दशा में लागू नहीं होता है जब कि वे कार्य सद्भावपूर्वक न किए गए हों । यह बात संरक्षण का दावा करने की उन परिस्थितियों से प्रकट होगी जिनका विश्लेषण अगले पैरा में किया गया है ।

न्यायिक अधिकारी को इस अधिनियम के अधीन जो संरक्षण प्रदान किया जाता है उसके लिए ये बातें अपेक्षित हैं (i) वह न्यायिक रूप में कार्य कर रहा था, (ii) उसने अपने न्यायिक कर्तव्य के निर्वहन में आदेश दिया था, और (iii) वह कार्य उसकी अधिकारिता की सीमाओं के अन्दर था या (यदि वह कार्य अधिकारिता के बिना था तो) वह स्वयं सद्भावपूर्वक यह विश्वास करता था कि परिवादित कार्य करने की या उसे करने का आदेश देने की उसे अधिकारिता प्राप्त थी । धारा 1 के पढ़ने से[3] यह अच्छी तरह स्पष्ट है ।

धारा 77 के अपनाए जाने के प्रस्ताव का प्रभाव ।

6.3. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 77 के अपनाए जाने से, जिसका सुझाव हमने ऊपर दिया है,[4-5] इस सम्बन्ध में कोई मूल अन्तर नहीं पड़ेगा । किन्तु इससे निश्चय ही विधि का कथन अधिक सरल और स्पष्ट रूप में हो जाएगा ।

"न्यायिक" का अर्थ ।

6.4. इस बात का उल्लेख कर दिया जाए कि विचाराधीन अधिनियम में यह अपेक्षा की गई है कि कार्य अवश्य ही "न्यायिक" कर्तव्य के निर्वहन में किया गया होना चाहिए । यद्यपि इस सन्दर्भ में[6] "न्यायिक" शब्द के बारे में बहुत से विनिर्णय (रूलिंग्स) विद्यमान हैं तथापि वे प्रत्येक मामले के तथ्यों पर अधिकांशतः केन्द्रित हैं और उनसे किसी पाठ सम्बन्धी संशोधन की आवश्यकता नहीं है ।

"अधिकारिता" का अर्थ ।

6.5. विचारणीय अधिनियम में "अधिकारिता" शब्द का प्रयोग जिस रूप में किया गया है उसका अर्थ आक्षेपित कार्य (विशिष्ट कार्य) करने की या उसे करने का आदेश देने की शक्ति नहीं है बल्कि उसका अर्थ मामले में कार्य करने के लिए न्यायिक अधिकारी का साधारण रूप में अधिकार है ।[7] जहां उप खण्ड मजिस्ट्रेट रिष्टि (मिसचीफ) के अपराध के लिए किसी व्यक्ति की गिरफ्तारी का आदेश उस अपराध का संज्ञान किए बिना देता है वहां वह उपखण्ड मजिस्ट्रेट कार्यकारी हैसियत में कार्य करता है और वह इस प्रकार गिरफ्तार किए गए व्यक्ति के मिथ्या कारावास की नुकसानी का संदाय करने के लिए दायी है ।

पिछला पैरा 5.2 देखिए ।

2. परिशिष्ट 1 देखिए ।

3. धारा 1 के पाठ के लिए पिछला पैरा 3.3 देखिए ।

4. पिछला पैरा 5.2 और पैरा 6.1 ।

5. पिछला पैरा 3.3 भी देखिए ।

6. आइएट, टार्टस (1975) पृष्ठ 46, अध्याय 2, पैरा 16 ।

7. अनवर हुसैन बनाम अजय कुमार ए० आई० आर० 1965 सुप्रीम कोर्ट, जिसमें ए० आई० आर० 1959 असम 28 का अनुमोदन किया गया है ।

अध्याय 7

अनुसचिवीय कार्य

धारा 1 और अनुसचिवीय कार्य ।

7.1. अभी तक हमने विचाराधीन अधिनियम की धारा 1 के उस भाग पर विचार किया है जिसका सम्बन्ध न्यायाधीशों की उन्मुक्ति से है । इस धारा का पश्चात्वर्ती भाग न्यायालय के उस अधिकारी और "अन्य व्यक्ति" को संरक्षण प्रदान करता है जो न्यायाधीश द्वारा जारी किए गए किसी ऐसे वारन्ट या आदेश का निष्पादन करता है जिसे वह अधिकारी या अन्य व्यक्ति उस दशा में निष्पादित करने के लिए आबद्ध होगा जब कि उस वारन्ट या आदेश को पाने वाला व्यक्ति अधिकारिता के अन्दर है । यहां भी भारतीय दण्ड संहिता की धारा 78 की ही समान भाषा को अपनाना बेहतर प्रतीत होता है ।[1] उस धारा का सम्बन्ध न्यायाधीश के आदेशों के अनुसरण में किए गए अनुसचिवीय कार्यों के लिए आपराधिक दायित्व के संरक्षण से है (जैसा कि उस संहिता में परिभाषित है) ।

धारा 1 के पश्चात्वर्ती भाग की सम्भाव्य पुनः प्रारूपण ।

7.2. इस आधार पर धारा 1 के पश्चात्वर्ती भाग का पुनरीक्षण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :—

"कोई बात, जो न्यायालय के निर्णय या आदेश के अनुसरण में की जाए या उसके द्वारा आदिष्ट हो, यदि वह उस निर्णय या आदेश के प्रवृत्त रहते की जाए, वैसी बात करने वाले व्यक्ति को किसी सिविल न्यायालय में अपने विरुद्ध वाद लाए जाने के लिए दायी नहीं बनाएगी, चाहे उस न्यायालय को ऐसा निर्णय या आदेश देने की अधिकारिता न रही हो, परन्तु यह तब जब कि वह कार्य करने वाला व्यक्ति सद्भावपूर्वक विश्वास करता हो कि उस न्यायालय को ऐसी अधिकारिता थी ।"

---

1. परिशिष्ट I ।

3—410 एल०ए०डी०/एन डी/84

अध्याय 8

"सद्भाव" और अन्य अभिव्यक्तियां

धारा 1—"सद्भाव"।

8.1. इस अधिनियम की धारा 1 के सम्बन्ध में जिस एक महत्वपूर्ण बात पर ध्यान अवश्य देना चाहिए वह यह प्रश्न है कि क्या "न्यायिक रूप से" सद्भावपूर्वक कार्य करने वाले व्यक्ति के विश्वास के बारे में जांच अवश्य करनी चाहिए? दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि क्या यहां "सद्भाव" शब्द में सम्यक् सतर्कता और ध्यान के आधारतत्व हैं। कलकत्ता के एक मामले में इस बात पर विस्तार से विचार-विमर्श किया गया था।[1] उस मामले में तथ्यों पर विश्वास को सच्चा और उचित दोनों अभिनिर्धारित किया गया था। इसके साथ ही यह भी बताया गया था कि धारा 1 में "सद्भावपूर्वक" शब्द जिस रूप में आता है उस रूप में उसके ठीक ठीक अर्थ के बारे में कुछ कठिनाई हो सकती है। यह कहा गया था कि यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या मजिस्ट्रेट के विश्वास के लिए उचित कारण विद्यमान था या यदि उसने स्वयं यह सोचा था कि पर्याप्त कारण था तो क्या वह पर्याप्त था।[2]

भारतीय दण्ड संहिता में "सद्भावपूर्वक" की परिभाषा अपनाने का सुझाव।

8.2. कलकत्ता के उपर्युक्त मामले में[3] जो कठिनाई बताई है वह उस दशा में दूर हो जाएगी जब कि दण्ड संहिता में "सद्भाव"[4] की परिभाषा जिस में दी गई है उस रूप में उसे विचाराधीन अधिनियम के अर्थान्वयन के प्रयोजन के लिए भी अपना ली जाए। दण्ड संहिता की धारा 52 निम्नलिखित रूप में है :—

> "52. कोई बात "सद्भावपूर्वक" की गई या विश्वास की गई नहीं कही जाती जो सम्यक् सतर्कता और ध्यान के बिना की गई या विश्वास की गई हो।"

यह वांछनीय है कि विचाराधीन अधिनियम के प्रयोजनों के लिए भी बिना सोचे विचारे विश्वास के लिए उन्मुक्ति प्रदान नहीं करनी चाहिए। यह उल्लेख कर देना चाहिए कि बिना सोचे विचारे अधिकारिता के बाहर कार्य करने वाला न्यायाधीश आपराधिक दायित्व से उन्मुक्ति का उपभोग नहीं करता है।[5]

"कार्य" की परिभाषा।

8.3. भारतीय दण्ड संहिता में एक और उपयोगी परिभाषा दी गई है—वह "कार्य" शब्द की परिभाषा है—जो अपनाने लायक है।[6] इस शब्द का प्रयोग विचाराधीन अधिनियम में किया गया है किन्तु इस अधिनियम में उसकी परिभाषा नहीं दी गई है।

भारतीय दण्ड संहिता में दो धाराएं उसके विस्तार को परिनिश्चित करने के लिए सुसंगत हैं। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 32 में निम्नलिखित उपबन्धित है :—

> "जब तक कि संदर्भ से तत्प्रतिकूल आशय प्रतीत न हो, इस संहिता के हर भाग में किए गए कार्यों का निर्देश करने वाले शब्दों का विस्तार अवैध लोपों पर भी है।"

इसी संहिता की धारा 33 में निम्नलिखित उपबन्धित है :—

> '33. "कार्य" शब्द कार्यावली का द्योतक उसी प्रकार है जिस प्रकार एक कार्य का "लोप" शब्द लोपावली का, "लोप" शब्द लोपावली का द्योतक उसी प्रकार है जिस प्रकार एक लोप का।'

---

1. रोहिणी कुमार बनाम नियाज अहमद, ए० आई० आर० 1944, कलकत्ता, 4, 10 (न्यायमूर्ति पाल)।
2. कलक्टर आफ सी कस्टमस बनाम चिन्दावरम् (1876) आई० एल० आर० 1 मद्रास 89।
3. पिछला पैरा 8.1।
4. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 52।
5. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 77 (परिशिष्ट 1 देखिए)।
6. भारतीय दण्ड संहिता की धारा 32 और धारा 33।

एकरूपता

8.4. भारतीय दण्ड संहिता में दी गई परिभाषाएं उपयोगी हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे विषयों में, जैसे कि सिविल और आपराधिक दायित्व के सम्बन्ध में, कुछ एकरूपता तब तक वांछनीय है जब तक कि सिद्धान्त के किसी विषय पर विभेद करना न्यायोचित न हो।

भारतीय दण्ड संहिता में दी गई परिभाषाओं को अपनाने का प्रस्ताव।

8.5. इस तर्क के आधार पर इस आशय का एक उपबन्ध विचाराधीन अधिनियम में अन्तःस्थापित करने का उचित कारण है कि ऐसे शब्दों और अभिव्यक्तियों का, जो भारतीय दण्ड संहिता में परिभाषित और प्रयुक्त हैं, किन्तु विचाराधीन अधिनियम में परिभाषित नहीं हैं, वही अर्थ इसमें भी होगा जो भारतीय दण्ड संहिता में क्रमशः उनका अर्थ दिया गया है।

जहां तक हम अनिश्चित कर सके हैं भारतीय दण्ड संहिता में परिभाषित ऐसी अभिव्यक्तियां हैं जो विचाराधीन अधिनियम के प्रयोजनों के लिए उपयोगी होंगी :—

1. धारा 19—"न्यायाधीश" (न्यायालय के प्रति निर्देश से परिभाषित)।[1]
2. धारा 20—"न्यायालय" (न्यायाधीश की परिभाषा में प्रयुक्त)।[2]
3. धारा 32 और धारा 33—"कार्य"।[3]
4. धारा 52—"सद्भाव"।[4]

यदि इन्हें विचाराधीन अधिनियम में अपना लिया जाता है तो यह उपयोगी होगा।

---

1. पिछला पैरा 5.2।
2. पिछला पैरा 5.3।
3. पिछला पैरा 8.3।
4. पिछला पैरा 8.2।

अध्याय 9

कार्य-संचालन पत्र के बारे में प्राप्त आलोचनाएं

कार्य-संचालन पत्र के बारे में प्राप्त आलोचनाएं ।

9.1. विधि आयोग द्वारा इस विषय पर परिचालित कार्य-संचालन पत्र के उत्तर में[1] तीन आलोचनाएं प्राप्त हुई हैं ।[2] इन उत्तरों में से एक उत्तर एक उच्च न्यायालय से प्राप्त हुआ है जिस न्यायालय के पास आलोचना करने के लिए कुछ भी नहीं है ।[3] दूसरा उत्तर एक ऐसे न्यायालय से प्राप्त हुआ है जो कार्य-संचालन पत्र में दिए गए प्रस्ताव से सहमत है[4] । तीसरा उत्तर भी एक ऐसे न्यायालय से प्राप्त हुआ है जो न केवल इस प्रस्ताव से सहमत है बल्कि उसने यह भी कहा है कि इस प्रस्ताव से[5] न्यायिक अधिकारियों को संरक्षण देने में बहुत मदद मिलेगी ।

9.2. इस तरह से इन प्रस्तावों का स्वागत किया गया है ।

---

1. विधि आयोग की फाइल सं० एफ 2(8)84-एल०सी०सी०न० क्रम सं० 2, 3 और 4 ।
2. 18 अगस्त, 1984 तक प्राप्त सभी आलोचनाओं पर ध्यान दिया गया है ।
3. विधि आयोग की फाइल सं० एफ 2(8)84 एल० सी० सी० नं० 2 ।
4. विधि आयोग की फाइल सं० एफ 2(8)84 एल०सी०सी० नं० 3 ।
5. विधि आयोग की फाइल सं० एफ 2(8)84 एल०सी०सी० न० 4 ।

अध्याय 10

मुख्य सिफारिशें

मुख्य सिफारिशें ।

10.1. इस रिपोर्ट में की गई सिफारिशों को सुविधा की दृष्टि से निम्नलिखित रूप में संक्षिप्त किया जा सकता है :—

(1) न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम के संक्षिप्त नाम का पुनरीक्षण "न्यायाधीश संरक्षण अधिनियम, 1850" के रूप में पढ़े जाने के लिए कर देना चाहिए ।[1]

(2) इस अधिनियम का विस्तार जम्मू-कश्मीर राज्य के सिवाय सम्पूर्ण भारत पर कर देना चाहिए ।[2]

(3) न्यायाधीशों के संरक्षण के लिए इस अधिनियम में जो उपबन्ध है उसका पुनरीक्षण निम्नलिखित रूप में कर देना चाहिए:[3]

> "कोई न्यायाधीश किसी ऐसी बात के लिए अपने विरुद्ध वाद लाए जाने का दायी नहीं होगा जो उसके द्वारा किसी ऐसी शक्ति के प्रयोग में, न्यायिक रूप से कार्य करते हुए की जाती है जो उसे विधि द्वारा दी गई है या जिसके बारे में वह सद्भावपूर्वक यह विश्वास करता है कि वह शक्ति उसे विधि द्वारा दी गई है ।"

(4) न्यायिक कार्यों के अनुसरण में की गई अनुसचिवीय कार्रवाई के बारे में अधिनियम के सुसंगत उपबन्ध का पुनरीक्षण निम्नलिखित रूप में पढ़े जाने के लिए कर देना चाहिए :

> "कोई बात, जो न्यायालय के निर्णय या आदेश के अनुसरण में की जाए या इसके द्वारा आदिष्ट हो, यदि वह उसे निर्णय या आदेश के प्रदत्त रहते की जाए, वैसी बात करने वाले व्यक्ति को किसी सिविल न्यायालय में अपने विरुद्ध वाद लाए जाने के लिए दायी नहीं बनाएगी, चाहे उस न्यायालय को ऐसा निर्णय या आदेश देने की अधिकारिता न रही हो । परन्तु यह तब जब कि वह कार्य करने पर जो व्यक्ति सद्भावपूर्वक विश्वास करता हो कि उस न्यायालय को ऐसी अधिकारिता थी । "[4]

(5) इस अधिनियम में इस आशय का एक नया उपबन्ध अन्तःस्थापित किया जाना चाहिए कि ऐसे शब्दों और अभिव्यक्तियों का, जो भारतीय दण्ड संहिता में परिभाषित और प्रयुक्त हैं किन्तु इस अधिनियम में परिभाषित नहीं हैं, वही अर्थ इसमें भी होगा जो भारतीय दण्ड संहिता में क्रमशः उनका अर्थ दिया गया है ।[5]

---

1. पिछला पैरा 4.1 ।
2. पिछला पैरा 4.4 ।
3. पिछला पैरा 5.4 और पैरा 6.1 ।
4. पिछला पैरा 7.2 ।
5. पिछला पैरा 8.5 ।

अधिनियम का पुनरीक्षण किया जाना ।

10.2. इस अध्याय में सिफारिश की गई रीति से न्यायिक अधिकारी संरक्षण अधिनियम, 1850 का पुनरीक्षण किया जाना चाहिए ।

(के० के० मैथ्यू)
अध्यक्ष

(जे० पी० चतुर्वेदी)
सदस्य

(डा० एम० बी० राव)
सदस्य

(पी० एम० बक्षी)
अंशकालिक सदस्य

(वधा पी० सारथी)
अंशकालिक सदस्य

(ए० क० श्रीनिवासमूर्ति)
सदस्य-सचिव

तारीख 10 अक्तूबर, 1984

परिशिष्ट 1

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 76 से धारा 78

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 76 से धारा 78 निम्नलिखित रूप में है :—

"धारा 76 कोई बात अपराध नहीं है, जो किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा की जाए, जो उसे करने के लिए विधि द्वारा आबद्ध हो या जो तथ्य की भूल के कारण, न कि विधि की भूल के कारण, सद्भावपूर्वक विश्वास करता हो कि वह उसे करने के लिए विधि द्वारा आबद्ध है।

धारा 77 कोई बात अपराध नहीं है, जो न्यायिकत: कार्य करते हुए न्यायाधीश द्वारा ऐसी किसी शक्ति के प्रयोग में की जाती है जो, या जिसके बारे में उसे सद्भावपूर्वक विश्वास है कि वह उसे विधि द्वारा दी गई है।

धारा 78 कोई बात, जो न्यायालय के निर्णय या आदेश के अनुसरण में की जाए या उसके द्वारा आदिष्ट हो, यदि वह उसे निर्णय या आदेश के प्रवृत्त रहते की जाए, अपराध नहीं है, चाहे उस न्यायालय को ऐसा निर्णय या आदेश देने की अधिकारिता न रही हो। परन्तु यह तब जब कि वह कार्य करने वाला व्यक्ति सद्भावपूर्वक विश्वास करता हो कि उस न्यायालय को वैसी अधिकारिता थी।"

परिशिष्ट 2

न्यायाधीशों के संरक्षण के बारे में इंग्लिश विधि

इंग्लैंड में स्थिति—उन्नीसवीं शताब्दी में वरिष्ठ न्यायालयों के बारे में दृष्टिकोण ।

न्यायाधीशों के संरक्षण के बारे में इंग्लिश विधि का रोचक इतिहास है । प्रारम्भ काल में, इंग्लैंड में इस संदर्भ में वरिष्ठ और निम्नतर न्यायालयों के बीच (निर्णयन विधि द्वारा) विभेद था । उदाहरण के लिए, उन्नीसवीं शताब्दी में एक ऐसे मामले में जिसमें न्यायमूर्ति श्री ब्लैकबर्न के विरुद्ध एक असफल कार्रवाई में निम्नलिखित दृष्टिकोण अपनाया गया था ।[1]:—

> "हमारी विधि का यह एक सिद्धान्त है कि वरिष्ठ न्यायालयों[2] के न्यायाधीशों में से एक न्यायाधीश के विरुद्ध न्यायिक कार्य के लिए कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी भले ही यह अभिकथन किया गया हो कि वह कार्य इस पूर्ण और भ्रष्ट रूप में किया गया हो ।"

निम्नतर न्यायालय ।

किन्तु निम्नतर न्यायालयों की दशा में ऐसे विनिश्चय थे जिनमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि पीठासीन अधिकारी उस समय दायी हैं जब अधिकारिता के अधिनियम में दोष किया गया था ।[3] उदाहरण के लिए, ऐसे मामलों में न्यायाधीशों को अर्थात्, उनको अधिकारिता के बाहर के मामलों में मिथ्या कारावास और हमले की नुकसानी के लिए वैयक्तिक रूप से दायी अभिनिर्धारित किया गया था, चाहे उन्होंने मामलों में सद्भावपूर्वक कार्य किया था, और उनके निर्णयों का निष्पादन करने वाले अधिकारी समान रूप से दायी होते थे ।[4]

1948 में जस्टिसेस प्रोटेक्ट ऐक्ट पारित किया गया था जो अपनी अधिकारिता के अन्दर कार्य करने वाले न्यायाधीशों को तब तक संरक्षण देता है जब तक कि वादी ने द्वेष और उचित तथा सम्भाव्य कारण का अभाव सिद्ध न कर दिया हो ।[5] यह कानून कुछ विस्तार तक न्यायमूर्तियों की स्थिति को वरिष्ठ न्यायालयों के न्यायाधीशों की स्थिति के समीपतर ला दिया ।

किन्तु 1848 का कानून न्यायाधीशों को ऐसे कार्यों के लिए, जो उनकी अधिकारिता के बिना किए गए हों, कोई संरक्षण नहीं देता था[6] ।

1975 तक की स्थिति ।

1975 तक इंग्लैंड में स्थिति निम्नलिखित रूप में प्रकट होती है[7] :—

(क) वरिष्ठ न्यायालय के किसी न्यायाधीश के विरुद्ध कोई कार्रवाई किसी ऐसी बात के बारे में नहीं की जा सकती जो उसके द्वारा अपने कर्तव्यों के प्रयोग में की गई या कही गई थी, चाहे वह कितनी भी द्वेषपूर्ण या दोषपूर्ण न हो[8] या (सम्भवतः) यदि वह अपनी अधिकारिता के बाहर भी कर रहा हो ।

---

1. फ्रे बनाम ब्लैकबर्न (1863) की एस एस 576, 578, 122 ई० आर० 217 (क्राम्पटन जै०) ।
2. अपनी ओर से जोर देने के लिए रेखांकित ।
3. ओकनूर बनाम आइजक (1956) 1 आल ई आर 513 देखिए ।
4. वाडे, एडमिनिस्ट्रेटिव ला (1977) पृ० 640-641 ।
5. जस्टिसेस प्रोटैक्शन ऐक्ट, 1948 अब प्रोटैक्शन आफ जस्टिसेस ऐक्ट, 1979 की धारा 44 देखिए ।
6. जस्टिसेस प्रोटेक्शन ऐक्ट, 1848 की धारा 2 ।
7. (क) एल० ए० शेरिअन "प्रोटैक्शन आफ जस्टिसेस" (1961) 14 माडर्न ला रिव्यू 267 देखिए ।
(ख) डा० टाम्पसन, "जुडिशिअल इम्यूनिटी एण्ड प्रोटेक्शन आफ जस्टिसेस" (1958) 21, एम० एल० आर० 517 देखिए ।
8. एन्डरसन बनाम कोठी (1895) 1 क्वी० बैं० 668 (सी ए) ।

(ख) अन्य न्यायालयों (निम्नतर न्यायालयों) के न्यायाधीश अपनी अधिकारिता के बाहर के कार्यों के लिए दायी हैं। नजीरों में यह कथन किया गया था कि (निःसन्देह जहां तक केवल निम्नतर न्यायालयों के न्यायाधीशों का सम्बन्ध है) न्यायाधीश अपनी अधिकारिता की सीमा से आगे बढ जाने के लिए दायी था।[1]

(ग) जस्टिसेस प्रोटेक्शन ऐक्ट, 1848 के आधार पर एक मजिस्ट्रेट इन कार्यों के लिए दायी है (i) अपनी अधिकारिता के बाहर किए गए कार्यों के लिए और (ii) अपनी अधिकारिता के अन्दर किए गए ऐसे कार्यों के लिए जो द्वेष से या उचित तथा सम्भाव्य कारण के बिना किए जाते हैं। द्वेष की और उचित तथा सम्भाव्य कारण के अभाव को सिद्ध करने का भार वादी पर होता है।[2]

1975 का विनिश्चय।

1975 में कोर्ट आफ अपील ने एक महत्वपूर्ण निर्णय किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि कोर्ट आफ अपील के 1975 वाले इस निर्णय ने वरिष्ठ और निम्नतर न्यायालयों के बीच विभेद को नामंजूर कर दिया। उस मामले में लार्ड डैनिंग एम० आर० के निर्णय के अनुसार[3] :—

"इस देश के न्यायालयों—सर्वोच्च से लेकर निम्नतम न्यायालयों[4]—के प्रत्येक न्यायाधीश का कुछ हद तक संरक्षण करना चाहिए और वह कुछ हद तक दायी होना चाहिए———— जो कुछ वह करता है वह—तथ्य या विधि की दृष्टि से—उसकी अधिकारिता के बाहर हो सकता है किन्तु जब तक वह ईमानदारी से यह विश्वास करता है कि वह कार्य उसकी अधिकारिता के अन्दर है तब तक वह दायी नहीं होना चाहिए।"

इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक न्यायाधीश, चाहे वह वरिष्ठ या निम्नतर न्यायालय का हो (इसके अन्तर्गत मजिस्ट्रेट भी है) ऐसे न्यायिक कार्यों के बारे में जो इस ईमानदारी से विश्वास में किए गए हैं कि वे कार्य उसकी अधिकारिता के अन्दर हैं, उन्मुक्त (इम्यून) है। यद्यपि कोर्ट आफ अपील के सदस्यों के निर्णयों में निकाले गए निष्कर्ष के लिए विभिन्न कारण दिए गए हैं, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि कोर्ट आफ अपील सभी न्यायाधीशों को एक समान मानने के बारे में एकमत हैं मजिस्ट्रेटों या सर्किट न्यायाधीशों को अधिक प्रश्रय देने के लिए कोई तर्क प्रतीत नहीं होता है। बम्ले एल जे को इस बात से सन्तोष था कि नजीरों में यह सिद्ध कर दिया गया था कि वरिष्ठ और निम्नतर न्यायालयों के न्यायाधीशों में सैद्धांतिक रूप से कोई विभेद नहीं था[5-6]।

यह दृष्टिकोण बेहतर प्रतीत होता है, भले ही कुछ लेखक यह कथन करने में काफी सतर्क हैं कि निम्नतर न्यायाधीश अपनी अधिकारिता के आधिक्य में किए गए सभी कार्यों के लिए दायी होते हैं[7]।

1979 का अधिनियम।

इसके साथ ही यह भी उल्लेख कर देना चाहिए कि जस्टिसेस आफ पीस ऐक्ट, 1979 की धारा 45 में न्यायाधीशों के विरुद्ध ऐसे कार्यों के लिए, जो अधिकारिता के बिना किए गए हैं कार्यवाही करने की इजाजत उस दशा में दी गई है जबकि न्यायमूर्तियों द्वारा की गई दोषसिद्धि या दिया गया आदेश उच्च न्यायालय द्वारा अभिखण्डित (मंसूख) कर दिया गया हो।

---

1. कालडर बनाम हाल्केट (1840) 3 यू० पी० सी० 28, 13 ई० आर० 12 (पी० सी०) (1835-1842) आल ई आर रिप० 306, पामर बनाम कौन (1927) 1 कि० बै० 804;
सामी बनाम जी पी माउंट प्लेजेंट पोर्ट आफिस (1966) 3 आल ई आर 924।
2. वी कन्मूर बनाम आइजक (1956) 1 आल० ई आर 513-527 देखिए।
3. सिरेस बनाम खुरे (1975) बी बे डि० 118 (1974) 3 आल ई आर 776, 785 (सी० ए०)।
4. अपनी ओर से ज़ोर देने के लिए रेखांकित।
5. सिरेस बनाम खुरे (1975) क्वी० बै० डि० 118 (1974) 3 आल० ई० आर० 776, 787, 788 (सी०ए०)।
6. ब्रैजियर, "जुडिशियल इम्यूनिटी" (1976) पब्लिक ला, 377, 408।
7. उदाहरण के लिए, सालमन्ड टॉर्ट पृ० 387।

410
सा०स०चु०ना०—वि० 4—41एल०ए०डी०/एन०डी०/84—6-9-85—250.

©

PLD. 92. C. IV (H)
250—1985(DSK IV)

मूल्य : (देश में) 26 रुपये ; (विदेश में) 3.03 पौंड या 46 सेंट्स

प्रबन्धक, भारत सरकार मुद्रणालय, नाशिक द्वारा मुद्रित तथा
प्रकाशन, नियंत्रक, भारत सरकार, सिविल लाइन्स, दिल्ली द्वारा प्रकाशित,
1985